गाजियाबाद
दिसम्बर १४, २००७

सन्देश संख्या १२६
सन्देश १२८ का उपसंहार

गुरु जब ऑस्ट्रेलिया में थे तब उन्होंने सन्देश १२८ अपने एक शिष्य को लिखवाया था तथा शिष्य को उसे सन्देश के रूप में प्रस्तुत करने को कहा था। गुरू जब लौटकर भारत आ गए तब भी शिष्य ने उस सन्देश को नहीं लिखा था क्योंकि उसके शरीर में उस सन्देश की समझदारी नहीं थी । शिष्य ने गुरू को पूरी कहानी और उसकी शिक्षा को दुहराने का अनुरोध किया और फिर यथासम्भव उसे लिख लिया । तब उसने उस सन्देश का प्रारूप तैयार कर उसे गुरु के पास पेरिस भेजा । तब भी उस शरीर में समझदारी नहीं थी । गुरु को उस सन्देश को पुनः विस्तार पूर्वक लिखना पड़ा और ६ दिसम्बर २००७ को वह सन्देश के रूप में निकला । उस समय तक भी उस शिष्य के शरीर में उस सन्देश की समझ उत्पन्न नहीं हुई थी । गुरू ने शिष्य को दूरभाष पर उस सन्देश के बारे में लिखने को कहा किन्तु शिष्य ६ दिसम्बर को कुछ भी नहीं लिख सका क्योंकि उसके शरीर में उस सन्देश की कोई समझ नहीं थी ।

अगले दिन बिना माँगे और बिना चाहे, उस शिष्य के शरीर में विस्फोट घटित हुआ और उसने उसे विस्फोट के परमानन्द में लिखा । गुरू ने जब पेरिस से फोन किया तब उसी समय उसने लिखना समाप्त किया था । जैसे कोई शिशु अपने पिता को बताता है उसी तरह उस शिष्य ने गुरु को उत्सुकतापूर्वक बताया ''अब समझदारी घटित हो गई है ।''

जो लिखा गया था, उसे गुरु ने सुना और फिर गुरु ने शिष्य को उसे ''सन्देश १२८ के उपसंहार'' के रूप में वेबसाइट पर डालने हेतु कहा ।

यहाँ उस विस्फोट की समझदारी को साझा किया जा रहा है । उस विस्फोट को घटित होने में एक क्षण भी नहीं लगा किन्तु उसे अभिव्यक्त करने में कई वाक्यों का सहारा लेना पड़ा । जय गुरू, जय गुरू, जय गुरू ।

मनुष्य की बुद्धि दो अवस्थाओं में से किसी एक में होती है । वह या तो मन के अधीन होती है या चैतन्य के । जिस विशिष्ट अवस्था में बुद्धि होती है, उसी से इसका निर्णय होता है कि व्यक्ति बंधन में है या मुक्त है ।

मनुष्य–शरीर में जो मन है वह प्रभावों और अनुबन्धनों तथा विभिन्न अनुभवों से उनके दृढ़ होने के परिणामस्वरूप है । ''चित्त'' यह मन ही है जो जीवन नहीं है । जीवन स्वाभाविक रूप से चैतन्य होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह आग स्वाभाविक रूप से गर्म होती है । मन जड़ता है क्योंक यह जीवन से अलगाव है । वस्तुओं एवं घटनाओं का स्मृति में मानसिक पंजीकरण ही अनुबन्धन (Conditioning) है जो चित्तवृत्ति के स्वभाव को बदल कर फिर से उसे अनुबंधित करता है । अनुबन्धन की इस प्रक्रिया को भगवद्गीता में ''गुण'' कहा गया है जो विभेदकारी चित्तवृत्ति के ही घटक अवयव होते हैं । सारे कार्य गुणों द्वारा सम्पादित होते हैं किन्तु गुणों के क्षेत्र से प्रक्षेपित मिथ्या ''मैं'' यह कल्पना करता है कि वह कार्य सम्पादित कर रहा है । चित्तवृत्ति में यह विभाजन ही मनुष्य–जाति का शोक है । यह विभाजन ही गुणों को धारण करता है तथा व्यक्ति को उनसे मुक्त नहीं होने देता । इस तरह सम्पूर्ण जीवन अनुबन्धित प्रतिबिम्बों को नया रूप देने में व्यर्थ चला जाता है ।

बुद्धि जब गुणों के अधीन होती है तब व्यक्ति का आचरण उन्हीं से प्रेरित होता है । विभिन्न उद्दीपनों के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं वे गुणों या अनुबन्धनों के प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं ।

चैतन्य जीवन है । यह पवित्र ऊर्जा है तथा वास्तविक ईश्वर है । यह निष्प्रयोजन तथा निरूद्देश्य स्वतंत्र रूप से कार्य करता है । लोभ तथा भय जैसे गुणों से ही प्रयोजन उत्पन्न होते हैं और देवी–देवता तथा ईश्वर भी ।

इन सबका दर्शन होते ही चित्तवृत्ति में विभाजन का तत्क्षण विलय हो जाता है और पवित्र चैतन्य कार्य करने लगता है । इस अवस्था में अन्तर्चेतना में दो नहीं होता क्योंकि मौलिक परिवर्तन एवं विलय की घटना पहले ही घट चुकी होती है । यही मन और काल से मुक्ति है । बुद्धि तब पर्याप्त अनुक्रिया के रूप में कार्य करती है न कि अनुमानों एवं प्रतिक्रियाओं के रूप में । भीष्म जिन्होंने युधिष्ठिर को ''विष्णु सहस्रनाम'' (अनाम के हजार नाम) सुनाया था, की यही अवस्था थी ।

।। जय गुरू ।।